



अभय छजलानी

# अखबारों का भविष्य कौन जिम्मेदार ?

किसी भी विषय पर बहस शुरू होने के दो मतलब होते हैं। एक, उस विषय के अस्तित्व पर किसी तरह के सवाल खड़े हो रहे हों या दो, उस विषय में बदलाव, प्रगति, वृद्धि की संभावनाएँ नजर आने लगी हों। समाचार-पत्रों के बारे में ऐसी बहस को प्रारंभ हुए कुछ समय हो चुका है। दोनों ही संभावनाओं में समाचार-पत्रों के लिए यह बहस महत्वपूर्ण है।

एक वर्ग है जो वर्तमान स्थितियों में समाचार-पत्रों के अस्तित्व को संकट में मानता है। उसके तर्क हैं जो निराधार कहकर ठुकराए नहीं जा सकते हैं। विज्ञापनों की अधिक संख्या में समाचार तत्व का गुम हो जाना, एक तरफा समाचारों के प्रकाशन के लिए दबाव, समाचार चयन और उनके प्रकाशन में प्रबंधन, मार्केटिंग, प्रसार आदि विभागों का हस्तक्षेप अन्य समाचार माध्यमों जैसे टीवी, इंटरनेट आदि के प्रभाव में समाचार पत्रों की ताजगी पर पड़ता गहरा असर .. ऐसे अनेक बिंदु

यह वर्ग अपनी बात के समर्थन में उठाता रहा है। वहीं दूसरी ओर समाचार पत्रों की वर्तमान स्थिति को परिवर्तन के दौर में 'संक्रमणकाल' मानने वालों की संख्या भी कम नहीं है। उनका मानना यह भी है कि करीब ढाई सौ वर्षों में जब पहली बार समाचार-पत्र प्रकाशन की कोशिश भारत में की गई, समाचार पत्र ऐसे संक्रमणकाल एक से अधिक बार देख चुके हैं। इसलिए वे इसे समाचार पत्रों के लिए किसी तरह के खतरे के तौर पर देखने के लिए तैयार नहीं हैं। समाचार-पत्र या व्यापक अर्थों में बात करे तो प्रिंट मीडिया अस्तित्व के खतरे से

गुजर रहा है या वह वृद्धि की तैयारी कर रहा है, इस बारे में कुछ निष्कर्ष तय करने से पहले यह देखना आवश्यक होगा कि समाचार-पत्र(या प्रिंट मीडिया) की आवश्यकता क्या है? क्यों जरूरी है कि सामग्री छापकर पाठकों को परोसी जाए? दरअसल, इसका जवाब बहुत जटिल नहीं है। जिज्ञासा मानव स्वभाव का एक अनिवार्य तत्व होता है। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से यह जिज्ञासा शांत होती है। लेकिन प्रत्येक बार यह संभव नहीं होता है कि सारी जानकारियाँ इन प्रयासों से पूरी तरह मिल जाएँ और जिज्ञासा को पूर्ण रूप से संतुष्ट कर दें। यही पर एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता महसूस होती है जो सूचना

और जिज्ञासा के बीच विश्वसनीय सेतु की भूमिका का निर्वाह कर सके।

वर्तमान संदर्भों में सूचना और जिज्ञासा के दो पक्षों को इस तरह भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि व्यवस्था की नीतियों को समाज तक यानी शासन और शासित के बीच, पहुँचाना इस माध्यम की

आवश्यकता को रेखांकित करता है। इसी तरह समाज या शासित की जरूरतों को शासन तक पहुँचाना, इस प्रक्रिया के दौरान उठने वाले विभिन्न मुद्दों का विश्लेषण कर स्थिति को स्पष्ट कर एक तर्कसंगत मुकाम तक पहुँचाने में मदद करना भी प्रिंट मीडिया के दायित्वों में शुमार है। यदि इस दायित्व की पूर्ति बराबर हो रही है तो समाचार पत्रों को लेकर छिड़ी बहस का अर्थ है वृद्धि, विकास व्यापक होने के अवसरों की दहलीज तक समाचार-पत्र आ चुके हैं। आबादी में तीव्र वृद्धि, संसाधनों के प्रकारों में विविधता का व्यापक होना, आवश्यकताओं



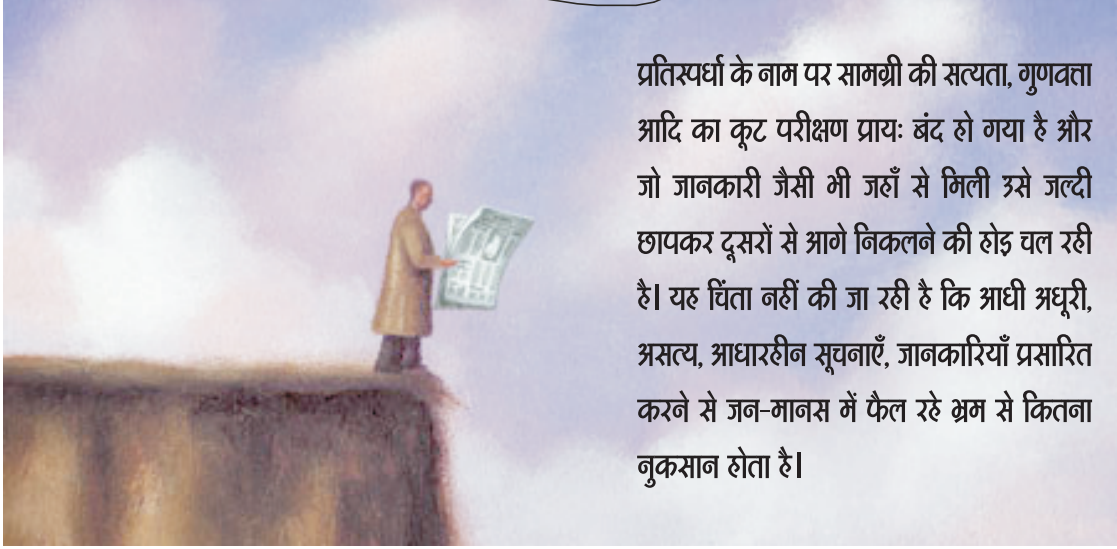
का विस्तार होना ऐसे कारण हैं जो समाचार-पत्रों की महत्ता को गहरी लकीर से रेखांकित करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन स्थितियों में समाचार-पत्रों का विकास अधिक तीव्र गति से और अधिक व्यापक होने की जरूरत है। एक बड़ी हद तक यह निष्कर्ष सही भी दिखाई देता है। लेकिन समाचार-पत्रों के विकास और उनकी प्रसार संख्या इस निष्कर्ष का समर्थन पूरी तरह नहीं करते हैं। तो क्या यह सच है कि समाचार-पत्रों का अस्तित्व संकट में है- पूरी तरह नहीं तो आंशिक ही? उनकी प्रसार संख्या इसके भी पुख्ता संकेत नहीं देती है। हालाँकि यह सच है कि अब भी पूरी वयस्क आबादी अखबार नहीं पढ़ती है। अखबार खरीदकर पढ़ने वालों की संख्या तो इससे काफी कम है। यह तथ्य दो अर्थों को अपने में समेटे है- समाचार-पत्र अपने चरम तक पहुँच चुके हैं और आगे बढ़ने फैलने की गुंजाइश अब नहीं बची है। यह अर्थ समाचार-पत्रों के अस्तित्व पर लग रहे प्रश्नचिन्ह को अधिक गहरा कर देता है। दूसरा यह हो सकता है कि अभी इतने लोग बाकी है जिन तक अखबार पहुँचाया जा सकता है। इस अर्थ में विस्तार, विकास की बड़ी संभावनाएँ छिपी हुई हैं। वर्ष 2006 में अखबारों की विक्री में करीब 13 प्रतिशत की वृद्धि हुई। प्रबंधन की दृष्टि से देखें तो इन संभावनाओं के दोहन के लिए जितने प्रयास इस दौर में किए जा रहे हैं, वे अभूतपूर्व हैं। पहले कभी पाठकों की संख्या बढ़ाने, विस्तार करने, प्रतिस्पर्धा में जीतने पर उतनी ऊर्जा, इतना धन समाचार-पत्र प्रबंधनों ने खर्च नहीं किया है। मैंने वर्ष 1955 में प्रबंधन और पत्रकारिता में प्रवेश किया था। बीते 54 वर्षों के अनुभव के आधार पर मैं यह बात दावे से कह सकता हूँ कि समाचार पत्रों के बीच प्रतिस्पर्धा का यह स्वरूप सच में अभूतपूर्व है। प्रतिस्पर्धा केवल विकास और विस्तार में ही नहीं संपादकीय कार्यों में भी उतनी ही तीव्र है। यही कारण है कि समाचार-पत्रों के पाँच बड़े बाजारों में भारत भी शामिल है। चार अन्य चीन, जापान, अमेरिका और जर्मनी। मैं भारत में समाचार-पत्रों की स्थिति पर ही ध्यान अधिक दिलाने की कोशिश भी इसलिए कर रहा हूँ। एक वजह और है, पश्चिमी विकसित देशों और भारत के बीच कई असमानताएँ हैं। साक्षरता, जीवन स्तर, जागरूकता जैसे क्षेत्रों में भारत अभी काफी पीछे है। यह स्थिति

**समाचार पत्रों के बीच प्रतिस्पर्धा का यह स्वरूप सच में अभूतपूर्व है। प्रतिस्पर्धा केवल विकास और विस्तार में ही नहीं संपादकीय कार्यों में भी उतनी ही तीव्र है। यही कारण है कि समाचार-पत्रों के पाँच बड़े बाजारों में भारत भी शामिल है।**

समाचार पत्रों की अधिक सक्रिय भूमिका की माँग करती है।

समाचार-पत्रों की आवश्यकता, उनकी भूमिका और वर्तमान स्थिति की चर्चा के बाद महत्वपूर्ण मुद्दा रह जाता है समाचार-पत्रों की चुनौतियों का। निकट इतिहास में अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जो चुनौतियों के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। तब से लेकर आज के बीच नई चुनौतियाँ जुड़ी हैं, लेकिन पुरानी चुनौतियाँ खत्म नहीं हुई हैं। तात्पर्य यह कि चुनौतियों की संख्या में इजाफा हुआ है। मोटे तौर पर इन चुनौतियों को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी की चुनौतियों में पुरानी भी शामिल हैं जैसे अखबार की लागत, प्रसार की दिक्कतें, सूचनाएँ जुटाने में आने वाली मुश्किलें आदि। इनमें कुछ चुनौतियाँ बाद में जुड़ी हैं जैसे प्रतिस्पर्धा में टिके रहने के लिए अखबार की लागत और पृष्ठों की संख्या के बीच अनुपात बैठाना, रंगीन छपाई के खर्च को उसी लागत में कैसे समेटना, नई तकनालॉजी प्राप्त करना, उस पर होने वाला खर्च आदि। दूसरी श्रेणी की चुनौती अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण और नई है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि इस चुनौती को रचने में बाहरी ताकतों की तुलना में खुद अखबारों ने अधिक

हिस्सेदारी की है। यह चुनौती अखबार में प्रकाशित की जा रही सामग्री, उसकी गुणवत्ता, ताजगी, प्रासंगिकता से जुड़ी हुई है। आत्म अवलोकन उपयोगी होता है और मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि प्रतिस्पर्धा के नाम पर सामग्री की सत्यता, गुणवत्ता आदि का कूट परीक्षण बंद प्रायः हो गया है और जो जानकारी जैसी भी जहाँ से मिली उसे जल्दी छापकर दूसरों से आगे निकलने की होड़ चल रही है। यह चिंता नहीं की जा रही है कि आधी अधूरी, असत्य, आधारहीन सूचनाएँ, जानकारीयों प्रसारित करने से जन-मानस में फैल रहे भ्रम से कितना नुकसान होता है। यह अस्वस्थ होड़ तुलनात्मक रूप से क्षेत्रीय और भाषायी अखबारों में अधिक तीव्र है। यह जानते हुए कि प्रकाशित सामग्री ही अंततः अखबारों की रीढ़ मानी जाती है, अखबारों की होड़ की यह मानसिकता अचरज में डाल देती है। यदि समाचार-पत्र, स्वयं इस दोष के प्रति सतर्क नहीं हुए और समय रहते व्यावसायिकता को तर्कसंगत, स्वस्थ सीमा में नहीं बाँधा तो यह अपनी नाव खुद डूबो देना जैसा होगा। यह विषय व्यापक है और इस पर अलग से एक पूरी चर्चा की जा सकती है।



प्रतिस्पर्धा के नाम पर सामग्री की सत्यता, गुणवत्ता आदि का कूट परीक्षण प्रायः बंद हो गया है और जो जानकारी जैसी भी जहाँ से मिली उसे जल्दी छापकर दूसरों से आगे निकलने की होड़ चल रही है। यह चिंता नहीं की जा रही है कि आधी अर्धूरी, असत्य, आधारहीन सूचनाएँ, जानकारियाँ प्रसारित करने से जन-मानस में फैल रहे भ्रम से कितना नुकसान होता है।

यहाँ समाचार-पत्रों के भविष्य के संदर्भ में मैं यदि भाषा और सामग्री के प्रस्तुतीकरण की बात नहीं कहूँगा तो यह अनुचित होगा। समाचार-पत्रों के भविष्य में उस भाषा का योगदान बराबर का होता है जिसमें वह अखबार प्रकाशित किया जाता है। देवनागरी में अँगरेजी और एसएमएस भाषा का प्रयोग बहुत अनियंत्रित और स्वच्छंद तरीके से किया जा रहा है। अँगरेजी अखबार अभी इससे अधिक प्रभावित नहीं है। यह सच है कि भाषा के जीवन प्रवाह को गतिमान बनाए रखने के लिए उसे संकीर्णता से मुक्त रखा जाना चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अखबार की मूल भाषा की संस्कृति, संस्कार, पहचान की कीमत पर यह किया जाना चाहिए। खासतौर से हिन्दी अखबार एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में प्रकाशित हो रहे अखबार भाषा की विकृति के इस हमले के निशाने पर हैं। और खेद की बात यह है कि 'बिजनेस ऑव कम्यूनिकेशन' के नाम पर इस भोंडेपन को उचित ठहराने की कोशिश अखबार-प्रबंधनों तथा अखबारनवीसों द्वारा ही की जा रही है। मेरी राय में समाचार-पत्रों, खासतौर से भाषायी समाचार-पत्रों के भविष्य के लिए यह सबसे बड़ा खतरा है। यही बात का बतंगड़ बनाने की लालसा के बारे में कही जा सकती है। आगे बने रहने और स्वयं को अधिक सूचित दिखाने की लालसा में अखबारों में बतंगड़ बनाए जाने की बढ़ती प्रवृत्ति किसी से छिपी नहीं है।

मैं समझता हूँ कि इस मौके पर समाचार-पत्रों के भविष्य के संदर्भ में, उनकी दशा और दिशा के बारे में इतना ही पर्याप्त

होगा। मैं दोहराना चाहूँगा कि किसी बाहरी निष्कर्ष, निर्णय या समालोचना का इंतजार करने से बेहतर है कि समाचार-पत्र स्वयं अपना विश्लेषण करें और अपने भविष्य की चिंता करें। अभी भी समाचार-पत्रों की जमीन मजबूत है और उस पर एक मजबूत, विश्वसनीय ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। इतना कहने के बाद संक्षेप में इसी बात से अंत करना चाहता हूँ कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है और इसे चाहते हुए भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह अस्तित्व के लिए जरूरी समझा गया है।

जब हम परिवर्तन के साथ हम कदम होंगे तभी कायम भी रह सकेंगे। लेकिन हम कदम होना अपनी अस्मिता से समझौता करना नहीं है। भोजन के स्वरूप में बदलाव आ सकता है लेकिन भूख वही रहती है। समाचार पत्रों के संदर्भ में बात करें तो संचार व संवाद के माध्यम बदलें हैं लेकिन ज्ञान के प्रति जिज्ञासा शाश्वत है। समाज के प्रति दायित्व और भूमिका वही है। खुद अपनी अस्मिता को लुटाकर और दायित्व व भूमिका को नजरंदाज करना बदलाव के साथ हम-कदम होना नहीं है। यह तो अपने अस्तित्व के विनाश को आमंत्रण देने जैसा है।

**लेखक नई दुनिया के संपादकीय बोर्ड के अध्यक्ष हैं।**

(माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय द्वारा 'अखबारों का भविष्य' विषय पर आयोजित दो-दिवसीय राष्ट्रीय परिसंवाद (4 एवं 5 दिसम्बर 2009) में पढ़ा गया आलेख)